उपनयन संस्कार

डा० धनञ्जय वासुदेव द्विवेदी

सहायक प्रोफसर, संस्कृत विभाग,

डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी विश्वविद्यालय, राँची

उपनयन शब्द 'उप' उपसर्गपूर्वक 'नी' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। उप अर्थात् आचार्य के समीप नयन अर्थात् बालक को विद्याध्ययन के लिए ले जाने को 'उपनयन' कहते हैं। बालक के पिता आदि अपने पुत्रादिकों को विद्याध्ययनार्थ आचार्य के पास ले जाएं, यही उपनयन का अर्थ है। बालक में यह योग्यता आ जाय इसलिए विशेष-विशेष कर्म द्वारा उसे संस्कृत किया जाता है, उसे संस्कृत करने का संस्कार ही उपनयन या यज्ञोपवीत संस्कार है। इसी का नाम व्रतबन्ध भी है। इसमें यज्ञोपवीत धारणकर बालक विशेष-विशेष व्रतों में उपनिबद्ध हो जाता है। इस संस्कार के पश्चात् व्यक्ति ब्रह्मचर्याश्रम का जीवन प्रारम्भ होता था।

द्विजों का जीवन व्रतमय होता है, जिसका प्रारम्भ इसी व्रतबन्ध से होता है। इस व्रतबन्ध से बालक दीर्घायु, बली और तेजस्वी होता है-

यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे।

संस्कारों में षोडश संस्कार मुख्य माने जाते हैं, उनमें भी उपनयन की ही सर्वोपरि महत्ता है। उपनयन के बिना बालक किसी भी श्रौत-स्मार्त कर्म का अधिकारी नहीं होता-

न ह्यस्मिन् युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात्।

यह योग्यता उपनयन संस्कार के अनन्तर यज्ञोपवीत धारण करने पर ही प्राप्त होती है। उपनयन के बिना देवकार्य और पितृकार्य नहीं किए जा सकते और श्रौत-स्मार्त-कर्मों में तथा विवाह, सन्ध्या, तर्पण आदि कर्मों में उसका अधिकार नहीं रहता। उपनयन संस्कार से ही द्विजत्व प्राप्त होता है। उपनयन संस्कार में समन्त्रक एवं संस्कारित यज्ञोपवीतधारण तथा गायत्री-मन्त्र का उपदेश-ये दो प्रधान कर्म होते हैं, शेष कर्म अंगभूत कर्म हैं।

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

उपनयन का अधिकार केवल द्विजाति को है। प्रथम माता के गर्भ से उत्पत्ति तथा द्वितीय जन्म मौंजीबन्धन-उपनयन संस्कार द्वारा होने से ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों की द्विज संज्ञा है।

तैत्तिरीय संहिता ने बताया है कि मनुष्य तीन ऋणों को लेकर जन्म लेता है-ऋषि ऋण, देव ऋण तथा पितृ ऋण। इन तीन ऋणों से मुक्ति बिना यज्ञोपवीत संस्कार हुए सम्पन्न नहीं होती। मनुष्य यज्ञोपवीत संस्कार के अनन्तर विहित ब्रह्मचर्यव्रत का पालनकर ऋषियों के ऋण से मुक्त होता है, यजन-पूजन आदि के द्वारा देव-ऋण से मुक्त होता है और गृहस्थधर्म के पालनपूर्वक सन्तानोत्पत्ति से पितृ-ऋण से उऋण होता है। यदि यज्ञोपवीत संस्कार न हो तो इन तीनों कर्मों को करने का उसका अधिकार नहीं रहता, अतः यज्ञोपवीत संस्कार का बहुत महत्त्व है। इस संस्कार में मौञ्जीमेखलाधारण करने के कारण इसे मौंजीबन्धन संस्कार भी कहते हैं।यह संस्कार उसके ब्रह्मचर्यव्रत और विद्याध्ययन का प्रतीक है।

यज्ञोपवीत से पूर्वतक कामाचार, कामवाद तथा कामभक्षणजन्य दोष बालक को नहीं लगता तथा उसके कर्मों का प्रत्यवाय भी नहीं बनता। इसीलिए कोई प्रायश्चितविधान भी नहीं रहता। यज्ञोपवीत संस्कार के अनन्तर उसे ब्रह्मचर्य, सदाचार, शौचाचार, भक्ष्याभक्ष्य आदि नियमों का सावधानीपूर्वक पालन करना चाहिए। यम-नियम-संयमपूर्वक रहना चाहिए। आजकल कई लोग संयम-नियम पालन करने के डर से जनेऊ लेना नहीं चाहते। यह उचित नहीं है।

वास्तव में जितने भी संस्कार हैं, वे सब द्विजत्वप्राप्ति के उपकारक हैं। यज्ञोपवीत के पूर्व जातकर्मादि संस्कार भी द्विजत्वप्राप्ति में सहयोगी हैं और उसके बाद के विवाहादि संस्कार भी बिना यज्ञोपवीत संस्कार हुए सम्पन्न नहीं होने चाहिए, इसलिये यह संस्कार बहुत ही उपयोगी है और आवश्यक है।

आचार्य पारस्कर ने ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य बालक के लिए क्रम से जन्म से अथवा गर्भ से आठ, ग्यारह और बारह वर्ष उपनयन का मुख्य काल बताया गया है-

अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद् गर्भाष्टमे वा। एकादशवर्षं राजन्यम्। द्वादशवर्षं वैश्यम्।

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

यही समय मनुस्मृति में भी निर्धारित किया गया है। किसी कारणवश मुख्यकाल में यज्ञोपवीत संस्कार न हो सका हो तो ब्राह्मण बालक का सोलह, क्षत्रिय बालक का बाईस तथा वैश्य बालक का चौबीस वर्ष तक उनयन संस्कार हो जाना चाहिए, यह उनयनकाल की चरमावधि है।

उपनयन के लिए विहित मुख्यकाल तथा गौणकाल के व्यतीत हो जाने पर वह द्विजबालक पतितसावित्रीक, सावित्रीपतित अथवा व्रात्य कहलाता है। अर्थात् वह संस्कार न होने से पतित हो जाता है, विगर्हित-निन्दित हो जाता है और सभी प्रकार के व्यवहार के अयोग्य हो जाता है तथा धर्म-कर्मादि में उसका कोई अधिकार नहीं रहता। वह प्रायश्चित्ती हो जाता है। ऐसे अनुपनीत के विषय में शास्त्र ने व्यवस्था दी है कि ऐसी स्थिति में 'अनादिष्टप्रायश्चित' करके वह पुनः संस्कार की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

ब्राह्मणबालक को विशेष ब्रह्मतेजसम्पन्न बनाने की इच्छा हो तो पाँचवें वर्ष में, बलाभिलाषी क्षत्रिय बालक का छठे वर्ष में तथा धनार्थी वैश्यबालक का आठवें वर्ष में उपनयन करना चाहिए-

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।

राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे।।

उपनयन संस्कार में मुख्य रूप से यज्ञोपवीत धारण होता है, मौंजी, मेखला आदि भी धारण कराया जाता है, किन्तु समावर्तन के समय में उनके परित्याग की विधि है और फिर विवाह के अनन्तर गृहस्थाश्रम में प्रवेश होता है, किन्तु यज्ञोपवीत और शिखासूत्र यदि संन्यास धारण न करे तो यावज्जीवन बने रहते हैं। कात्यायन स्मृति में कहा गया है-

सदोपवीनिता भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।

विशिखो व्युपवीतश्च यत् करोति न तत्कृतम्।।

अर्थात् यज्ञोपवीत सदैव धारण करना चाहिए और शिखा में ओंकाररूपिणी ग्रन्थि बाँधे रखनी चाहिए। शिखा-सूत्रविहीन होकर जो कर्म किया जाता है, वह निष्फल होता है।

यज्ञोपवीत तीन तागों की जोड़ में लगी ग्रन्थियों से युक्त सूत की एक माला है, जिसे ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य धारण करते हैं। वैदिक अर्थों में यज्ञोपवीत शब्द 'यज्ञ' और 'उपवीत'-इन दो शब्दों के योग से बना है जिसका अर्थ है- यज्ञ से पवित्र किया गया सूत्र। साकार परमात्मा को यज्ञ और निराकार

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

परमात्मा को ब्रह्म कहा गया है-इन दोनों को प्राप्त करने का अधिकार दिलाने वाला यह सूत्र यज्ञोपवीत है। ब्रह्मसूत्र, सवितासूत्र तथा यज्ञसूत्र इसी के नाम हैं।

मनु के अनुसार ब्राह्मण का यज्ञोपवीत कपास का, क्षत्रिय का सन का तथा वैश्य का ऊन का बना हुआ तीन लड़ी का होता था। ब्रह्मचारी उपनयन संस्कार में अपने वर्ण के अनुसार भिन्न-भिन्न लकड़ी का बना हुआ दण्ड धारण करता था। दण्ड यात्रा का प्रतीक है और ज्ञान के दीर्घ तथा कठिन मार्ग को पार करके व्यक्ति अपने ध्येय को सुरक्षित रूप में प्राप्त कर सके, इसलिए ब्रह्मचारी के हाथ में दण्ड दिया जाता था। दण्ड के स्वरूप तथा लम्बाई का विविध वर्णन भी शास्त्रकारों ने पर्याप्त किया है।

यज्ञोपवीत की उत्पत्ति और उसके धारण की परम्परा अनादिकाल से ही है। इसका सम्बन्ध तो उस काल से है, जब मानवसृष्टि हुई थी। उस समय सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी स्वयं यज्ञोपवीत धारण किए हुए थे। इसलिए यज्ञोपवीत धारण करते समय यह मन्त्र पढ़ा जाता है-

ॐ यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः।।
ॐ यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि।

इस मन्त्र में बताया गया है कि शुभ कर्मानुष्ठानार्थ बनाये गये, अत्यन्त पवित्र, ब्रह्मा के द्वारा आदि में धारण किए गए, आयुष्य को प्रदान करने वाले, सर्वश्रेष्ठ, अत्यन्त शुद्ध यज्ञोपवीत को मैं धारण करता हूँ। मुझे तेज और बल प्रदान करें। ब्रह्मसूत्र ही यज्ञोपवीत है, मैं ऐसे यज्ञोपवीत को धारण करता हूँ।

साररूप में यह मन्त्र यज्ञोपवीत की उत्पत्ति का स्पष्ट संकेत देता है। देवता भी यज्ञोपवीत धारण करते हैं, ग्रन्थों में भगवान् राम, भगवान् श्रीकृष्ण के यज्ञोपवीत संस्कार का बड़ा ही भव्य वर्णन आया है। वैदिक ग्रन्थों में इसका उल्लेख होने से यह किन्हीं परवर्ती ऋषियों द्वारा निर्मित सूत्र नहीं है। यज्ञोपवीत-निर्माण की विशेष प्रक्रिया शास्त्रों में बताई गई है। इससे स्पष्ट होता है कि यह माला-जैसा दिखाई देने वाला सूत नहीं है, अपितु यह ब्रह्मतेज को धारण करने वाला तथा समस्त देव एवं पितृकर्मों को सम्पादित कर सकने की योग्यता प्रदान करने वाला देवसूत्र है।

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

उपवीत संस्कारित ब्रह्मसूत्र है, जो संस्कार के दिन से मृत्युपर्यन्त शरीर से अलग नहीं किया जाता है। इतने कड़े नियमों का पालन करते हुए कई अवसर आते हैं, जब धारण किए हुए यज्ञोपवीत को अशुद्ध मानकर नवीन यज्ञोपवीत धारण करने की आवश्यकता पड़ती है। शास्त्रकारों के अनुसार इन स्थितियों में धारण किए गए यज्ञोपवीत को अपवित्र मानकर नवीन यज्ञोपवीत धारण करने का निर्देश दिया गया है-

(क) यदि स्वतः की असावधानी से यज्ञोपवीत बाँये कन्धे से खिसककर बाँये कन्धे से खिसककर बाँये हाथ के नीचे आ जा जाय या उससे निकलकर कमर के नीचे आ जाय या वस्त्रादि उतारते समय उससे लिपटकर शरीर से अलग हो जाये अथवा यज्ञोपवीत का कोई धागा टूट जाए तो नवीन प्रतिष्ठित यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए-**वामहस्ते व्यतीते तु तत् त्यक्त्वा धारयेत् नवम्**।

(ख) मल-मूत्र त्याग करते समय कान में लपेटना भूल जाय अथवा कान में लिपटा सूत्र कान से सरककर अलग हो जाए-

मलमूत्रे त्यजेद् विप्रो विस्मृत्यैवोपवीतधृक्।
उपवीतं तदुसृज्य धार्यमन्यन्नवं तदा।।

(ग) उपाकर्म, जननाशौच, मरणाशौच, श्राद्धकर्म, सूर्य-चन्द्रग्रहण के समय, अस्पृश्य से स्पर्श हो जाने तथा श्रावणी में यज्ञोपवीत को अवश्य बदलना चाहिए।

(घ)प्रायः तीन-चार मास में यज्ञोपवीत शरीर के मलादि से दूषित और जीर्ण हो जाता है, अतः नया यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए-

धारणाद् ब्रह्मसूत्रस्य गते मासचतुष्टये।
त्यक्त्वा तान्यपि जीर्णानि नवान्यन्यानि धारयेत्।।

यज्ञोपवीत तीन रूपों में धारण किया जाता है और उन तीन स्थितियों के तीन नाम हैं, जो इस प्रकार हैं-उपवीती (सव्य), निवीती (कण्ठी की तरह), प्राचीनावीती (अपसव्य)।

यज्ञोपवीत जब बाँये कन्धे से दाहिने हाथ के नीचे दाहिनी तरफ होता है तो उसे उपवीती या सव्यावस्था स्थिति कहते हैं। सामान्य स्थिति में जनेऊ ऐसे ही पहना हुआ रहता है और सभी मांगलिक एवं देवकार्य भी सव्यावस्था में ही होते हैं। जनेऊ को गले में कण्ठी (माला) की तरह धारण करने को

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

निवीती अवस्था कहा जाता है। तर्पण में जब सनकादि ऋषियों को जलांजलि दी जाती है तो निवीती होकर ही दी जाती है। यज्ञोपवीत जब दाहिने कंधे से बायें हाथ के नीचे बायीं ओर किया जाता है तो इसे प्राचीनावीती या अपसव्यावस्था कहते हैं। सम्पूर्ण पितृकर्म-श्राद्ध-तर्पण आदि अपसव्य होकर ही करने की विधि है।

यज्ञोपवीत में तीन धागे होते हैं जो क्रमशः ऋषि-ऋण, देव ऋण और पितृ-ऋण के सूचक हैं। यही कारण है कि जब व्यक्ति ऋणत्रय से मुक्त हो जाता है तब (संन्यास आश्रम में प्रविष्ट हो) इसे विधिपूर्वक यज्ञीय अग्नि में भस्म कर देता है।

उपनयन संस्कार सम्पन्न करने के लिए अयन, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, वार, नक्षत्र, लग्न आदि का निर्धारण प्राचीन ग्रन्थों में मिल जाता है। इस संस्कार को सूर्य के उत्तरायण में रहने की स्थिति में करना चाहिए। वैश्य वर्ण के बालक का संस्कार दक्षिणायन में भी किया जा सकता है। ब्राह्मण बालक का उपनयन वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय बालक का उपनयन ग्रीष्म ऋतु में तथा वैश्य बालक का उपनयन शरद् ऋतु में तथा रथकारादि का उपनयन वर्षा ऋतु में सम्पन्न करना चाहिए।इस संस्कार के माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ-ये पाँच महीने अच्छे समझे जाते हैं। कुछ विद्वान् आषाढ़ को भी उनयन के लिए शुभ मास मानते हैं।इस संस्कार को शुक्ल पक्ष की द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी, दशमी, एकादशी तिथियों में, शुक्रवार, बृहस्पतिवार तथा रविवार को ही सम्पन्न करना चाहिए। किन्तु यह संस्कार जन्म के नक्षत्र, जन्म के महीने और जन्मदिन में नहीं करना चाहिए। प्रथम पुत्र का उपनयन संस्कार ज्येष्ठ मास में सम्पन्न नहीं करना चाहिए। कृष्णपक्ष में भी इस संस्कार को नहीं करना चाहिए। रिक्तातिथि, पूर्णमासी, प्रतिपदा, चतुर्थी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी एवं अमावस्या को भी संस्कार नहीं करना चाहिए। मंगल, शुक्र और चन्द्रमा का क्रमशः मेष, वृषभ और कर्कराशि से मिथुन लग्न पर योग हो जाए वही लग्न द्विज के उपनयन के लिए शुभ होता है। इस संस्कार की विधि वेदों, ब्राह्मणों, गृह्यसूत्रों, स्मृतियों में उपलब्ध हो जती है।

उपनयन संस्कार के समग्र स्वरूप से इसकी महत्ता स्वतः स्पष्ट है। जीवन में शिक्षा एवं ज्ञान के महत्त्व को सूचित करने के लिए उपनयन संस्कार की विविध विधियों का विधान किया गया। प्रारम्भिक

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

समय में ब्रह्मचारी उपनयन संस्कार से लेकर शिक्षा प्राप्त कर लेने तक गुरु गृह में ही निवास करता था। किन्तु शनैः शनैः गुरु गृहों में निवास समाप्त होता गया और घर पर ही शिक्षा ग्रहण की जाने लगी। इसी कारण इस संस्कार की विविध अनेक विधियाँ भी व्यर्थ होती गई। वर्तमान युग में उपनयन संस्कार का प्राचीन स्वरूप लगभग समाप्त प्राय है। उपनयन का अर्थ केवल जनेऊ धारण करना रह गया है।

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi